

**BOOK REVIEW : IDEOLOGY AND IDENTITY : THE CHANGING PARTY SYSTEM OF INDIA by Pradeep K Chhibbar and Rahul Verma, ISBN 978-0190623883, Oxford University Press. 2018. 320 pages. ₹1195.**

## जया ओझा<sup>1</sup>

<sup>1</sup>पी-एच0डी शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

प्रदीप छिब्वर व राहुल वर्मा द्वारा लिखित पुस्तक "Ideology and identity the changing party systems of India" के अंतर्गत भारतीय दलीय राजनीति में विचारधारा की महत्ता को दर्शाया गया है तथा उस दृष्टिकोण को चुनौती दी गई है जो यह मानता है कि भारतीय दल की राजनीति तथा चुनाव 'विचारों' से दूर हैं। लेखक इस पुस्तक के अंतर्गत तर्क देते हैं कि भारतीय राजनीति विचारधारात्मक है तथा वैचारिक संघर्ष भारतीय राजनीति में हमेशा से ही विद्यमान रही हैं। वैचारिक संघर्ष भारत में दलीय राजनीति का निर्माण करते हैं तथा उनको आकार प्रदान करते हैं। इस पुस्तक की विशिष्टता यह है कि इसमें आनुभाविक पद्धति का प्रयोग किया गया है, इसके अंतर्गत सर्वेक्षण आंकड़ों, सीएसडीएस के अभिलेखों, संविधान सभा के बहसों की रिपोर्ट तथा सरकारी आंकड़ों आदि के माध्यम से भारतीय राजनीति में वैचारिक संघर्षों के इतिहास को बताने का प्रयत्न किया गया है। छिब्वर और वर्मा का मानना है कि समकालीन भारतीय दलीय व्यवस्था के बारे में प्रसिद्ध अवधारणा यह है कि यह अव्यवस्थित, नेता केंद्रित, भ्रष्ट, अस्थिर तथा अवैचारिक है साथ ही यह भी माना जाता है कि भारत एक आकर्षक लोकतांत्रिक देश है जिसके अंतर्गत अत्यधिक प्रतिस्पर्धी चुनाव होते हैं। इसके समरूप ही एक अवधारणा यह भी है कि भारत में अत्यधिक प्रतिस्पर्धी चुनाव इसलिए देखने को मिलता है क्योंकि यहां पर राज नेता तथा उनके मतदाताओं के बीच संरक्षक-ग्राहक का संबंध, मतों की खरीददारी तथा भ्रष्ट राजनेता पाए जाते हैं, इस प्रकार भारतीय राजनीतिक दलों की कोई विचारधारा नहीं होती है। 2009 के चुनाव के समय *न्यूयॉर्क टाइम्स* के एक ओपिनियन में लिखा गया था कि भारत का चुनाव विश्व के सबसे न्यूनतम वैचारिक चुनावों में से एक है जिसकी कोई विचारधारा नहीं है।

प्रदीप छिब्वर व राहुल वर्मा अपनी इस पुस्तक के माध्यम से इस दृष्टिकोण पर असहमति व्यक्त करते हुए यह तर्क देते हैं कि भारतीय राजनीति गहरी विचारधारात्मक है तथा यह कम से कम सात या आठ दशकों से वैचारिक रही है। साथ ही इन्होंने मतों की खरीददारी को एक मिथक के रूप में बताया। इस पुस्तक के अंतर्गत लेखक भारतीय चुनावी राजनीति में विचारधारा को महत्वपूर्ण मानते हुए आनुभाविक पद्धति के द्वारा इसका विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

इस पुस्तक को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है – पुस्तक के पहले भाग में लेखक द्वारा भारतीय राजनीति में वैचारिक विभाजन का ऐतिहासिक एवं सैद्धांतिक आधार प्रदान किया गया है। लेखक का मानना है कि पश्चिमी यूरोपीय प्रतिमान जो एक विचारधारा का गठन करता है वह बीसवीं सदी के बहु-जातीय देशों पर लागू नहीं होते हैं। पश्चिमी यूरोप कई ऐतिहासिक चरणों से होकर गुजरा है जैसे पुनर्जागरण, सुधारवादी तथा औद्योगिक क्रांति यह सभी ऐतिहासिक आंदोलन समाज में मुख्य विदरण (cleavages) उत्पन्न करते हैं, जबकि अधिकतर उत्तर औपनिवेशिक राज्य (एशिया और अफ्रीका) इस प्रकार के ऐतिहासिक अनुभवों से होकर नहीं गुजरे हैं, यहां पर पूंजी व श्रम, ग्रामीण व शहरी, केंद्र तथा परिधि, चर्च व राज्य तथा अमीर गरीब आदि जैसा कोई विभाजन भी नहीं था जो कि पश्चिम यूरोप में देखने को मिला। इस प्रकार यह विदरण भारतीय राजनीतिक दलों का निर्माण नहीं करते परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत में विचारधारात्मक संघर्ष विद्यमान नहीं था।

लेखक द्वारा भारत में वैचारिक संघर्ष को दर्शाने के लिए दो सैद्धांतिक आधार प्रस्तुत किए गए हैं जो संविधान सभा में मुख्य विवाद का विषय रहे। पहला— पहचान की राजनीति जिसके अंतर्गत कुछ प्रश्न उठाए गए जैसे कोटा को सम्मिलित किया जाए या नहीं, एफर्मेटिव एक्शन किसको दिया जाए किसको नहीं, भारतीय राज्य में हिंदू बहुमत प्रवृत्ति का अनुसरण किया जाए या धर्मनिरपेक्ष सिद्धांतों का। इस प्रकार यह पहले वैचारिक संघर्ष का आधार बना। दूसरा— राज्यवाद की राजनीति जिसके अन्तर्गत सामाजिक मानदंडों व निजी संपत्ति के पुनः वितरण में राज्य की भूमिका को लेकर प्रमुख विवाद रहा। इस पुस्तक के अंतर्गत कुछ ऐतिहासिक साक्ष्यों की पुष्टि करते हुए छिब्वर व वर्मा तर्क देते हैं कि रामायण से लेकर अर्थशास्त्र, महाभारत, बुद्धिस्थ ग्रंथ आदि सब में कहा गया है कि राज्य को सामाजिक मानदंडों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, राज्य का कार्य मात्र प्रशासन का प्रबंधन करना होना चाहिए। यहां तक कि गांधी भी राज्य की भूमिका को हिंसात्मक मानते हुए कहते हैं कि कोई भी परिवर्तन समाज के द्वारा होना चाहिए ना कि राज्य के द्वारा।

इस प्रकार पुस्तक के पहले भाग में लेखक विचारधारात्मक विभाजन के सैद्धांतिक व ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को

रखने का प्रयास करते हैं, जबकि पुस्तक के दूसरे भाग में कुछ अनुभवजन्य साक्ष्यों के द्वारा विचारधारात्मक संघर्ष को दर्शाते हैं। इसके लिए सर्वेक्षण आंकड़ों तथा सीएसडीएस के अभिलेखों का प्रयोग करके भारतीय दलीय राजनीति की संरचना में विचारधारात्मक संघर्ष को दिखाते हैं। इन आंकड़ों के द्वारा लेखक बताते हैं कि 1967, 1990 से 2004 में इन दोनों वैचारिक पैमानों (पहचान की राजनीति तथा राज्यवाद की राजनीति) का पैटर्न समान रहा है। 1967 में भारतीय जन संघ तथा इनके मतदाताओं द्वारा राज्यवाद तथा पहचान की राजनीति दोनों का विरोध किया गया, जबकि कांग्रेस केंद्र में थी, वहीं समाजवादी या वाम पंथी दल व उनके मतदाताओं द्वारा राज्यवाद व मान्यता की राजनीति को बढ़ावा दिया गया। इस प्रकार 2004 तक यही सामान्य वैचारिक संघर्ष बना रहा। 2014 के चुनाव में मोदी ने दोनों वैचारिक पैमानों को एक साथ समाहित करके दक्षिणपंथी को संगठित करने का प्रयास किया, और अंततः उन्हें विजय प्राप्त हुई। अतः इस प्रकार प्रत्येक चुनाव में वैचारिक संघर्षों की अहम भूमिका रही है। लेखक कहते हैं कि बौद्धिक वर्ग या अभिजन वर्ग अपने विचारों को जनता तक पहुंचाने के लिए घोषणा पत्रों (Manifestos), प्रचार अभियानों (Campaigns), मीडिया, संगठनों तथा धार्मिक प्रथाओं आदि का सहारा लेते हैं, इस प्रकार वह अपनी विचारधाराओं को जनता तक पहुंचाने का प्रयास करते हैं। छिब्र व वर्मा ने सर्वेक्षण द्वारा यह भी पता लगाने का प्रयत्न किया कि पार्टियों द्वारा दिए गए मुफ्त उपहार तथा भेट चुनाव परिणाम को प्रभावित करते हैं या नहीं उन्होंने पाया कि चुनाव परिणाम को उपहार या भेट प्रभावित नहीं करता अपितु दल के 'मुद्दे' प्रभावित करते हैं। लोग मुद्दों से प्रभावित होकर मत देते हैं।

पुस्तक के तीसरे भाग में लेखक द्वारा यह बताया गया है कि किस प्रकार इन दोनों विचारधारात्मक पैमानों के द्वारा भारतीय दलीय व्यवस्था को संरचित किया जाता है। इसके लिए वह दलीय व्यवस्था के चार चरणों की बात करते हैं। पहली दलीय व्यवस्था (1952-67) जिसे रजनी कोठारी द्वारा "कांग्रेस प्रणाली" का नाम दिया गया, इस समय कांग्रेस केंद्र में थी तथा दक्षिणपंथ अन्य दलों में विभक्त था (भारतीय जनसंघ, राम राज्य परिषद, ऑर्थोडॉक्स हिंदू महासभा)। इस काल में कांग्रेस द्वारा राज्यवाद तथा पहचान की राजनीति पर संतुलन बनाए रखने के भरसक प्रयास किए गए, परंतु दूसरी दलीय व्यवस्था (1967-87) में कांग्रेस द्वारा राज्यवाद पर अत्यधिक बल दिया गया तथा पहचान आधारित नीतियों पर इसके द्वारा कोई खास परिवर्तन नहीं किया गया। इसके परिणामस्वरूप अन्य पिछली जातियों की राजनीति का उद्भव हुआ तथा कई क्षेत्रीय दलों का निर्माण हुआ इसके साथ गठबंधन की सरकारों का भी अस्तित्व देखा जाने लगा। तीसरी दलीय व्यवस्था (1988-2014) व्यवस्था के अंतर्गत मंडल, मंदिर जैसे आंदोलन कांग्रेस के लिए खतरनाक साबित हुए। उच्च जातियों में कांग्रेस की नीतियों (राज्यवाद व पहचान पर आधारित) को लेकर रोष उत्पन्न हुआ उन्होंने बीजेपी की तरफ अपना रुख किया, ओबीसी वर्गों ने क्षेत्रीय दलों को अपना समर्थन देना शुरू किया।

अतः 1990 में भारतीय चुनावी राजनीति में भारतीय जनता पार्टी का उत्थान हुआ और साथ ही अन्य कई क्षेत्रीय दलों का उद्भव हुआ। 2004 और 2009 में कांग्रेस कुछ लोकप्रिय नीतियों के साथ आई परंतु 2014 के चुनाव से पहले भ्रष्टाचार एक ऐसा मुद्दा बना जो भारतीय जनता पार्टी को विजय हासिल कराने में मददगार साबित हुआ। इस प्रकार 2014 से चौथी दलीय व्यवस्था राजनीति की शुरुआत हुई। अतः पहचान व राज्यवाद की राजनीति के आधार पर वैचारिक विभाजन भारतीय दलीय व्यवस्था के लिए एक पैरामीटर स्थापित करता है। इसके साथ ही लेखक यह मानते हैं कि कांग्रेस का पतन अचानक से नहीं अपितु इस पतन की प्रक्रिया 1960 से ही धीरे-धीरे निरंतर चल रही थी। लेखक कहते हैं कि कांग्रेस के पतन के पीछे का कारण उसका नेतृत्व या संगठन नहीं अपितु विचारधारा है, क्योंकि कांग्रेस अपनी विचारधारा को अन्य क्षेत्रीय दलों की विचारधारा से अलग करने में असफल रही। परिणामस्वरूप उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु व बंगाल जैसे राज्यों में उसे हार का सामना करना पड़ा, वहीं कुछ राज्यों राजस्थान, मध्य प्रदेश तथा छत्तीसगढ़ में आज भी सत्ता में है क्योंकि इन राज्यों में वह अपनी विचारधारा को बीजेपी की विचारधारा से अलग करने में सफल साबित हुई है। 2014 के चुनाव का विश्लेषण करते हुए लेखक बताते हैं कि इस चुनाव में मोदी का नेतृत्व बीजेपी के लिए अत्यंत लाभदायक साबित हुआ, बीजेपी पूर्ण बहुमत के साथ सरकार में आई। 2014 में भारतीय जनता पार्टी को मत ना केवल उच्च कुछ वर्गों द्वारा मिला अपितु एससी-एसटी वर्गों की भी उतनी ही भूमिका रही। इस समय भारतीय जनता दल के मतदाताओं में वह भी शामिल थे जो आरक्षण तथा राज्यवाद का विरोध कर रहे थे इसमें ज्यादातर युवा वर्ग के लोग सम्मिलित थे। इस प्रकार मोदी ने दोनों में सामंजस्य बिठाते हुए 2014 में सफलता हासिल की। 2014 में बीजेपी पूर्ण बहुमत के साथ सरकार बनाने में कामयाब रही परंतु आने वाले समय में उसके समक्ष कुछ मुख्य चुनौतियां हैं— जैसे 2014 में बीजेपी को एससी एसटी तबकों की तरफ से ज्यादा मत हासिल हुए परंतु बीजेपी की संरचना में अभी भी उच्च वर्ग के लोगों का प्रभुत्व है, इनके वैचारिक गठबंधन में मतभेद देखने को मिलता है। बीजेपी के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती यह है कि मोदी के बाद बीजेपी का कौन नेतृत्व करेगा जो मोदी की तरह ही बीजेपी पार्टी को सफलता दिलाएगा। इन सब चुनौतियों पर विचार करने की आवश्यकता है।

पुस्तक के चौथे भाग में लेखक द्वारा कुछ निहितार्थ या उलझनों को बताया गया है। लेखक तर्क देते हैं कि प्रतिस्पर्धी लोकप्रियता (पॉपुलिज्म) भारतीय राजनीति में निरंतर बढ़ रही है, पार्टियां जनता को लुभाने के लिए अनेक प्रकार के हथकंडे अपना रही हैं जिससे भारत की राजस्व नीति पर दबाव बढ़ सकता है। भारत में जेंडर पर आधारित भेदभाव भी अत्यधिक देखने को मिलता है इस पर सुधार की प्रक्रिया अत्यंत धीमी है। यद्यपि मोदी द्वारा इस पर अनेक कदम उठाए गए हैं जैसे "बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ", स्वच्छता की ओर कदम, लड़कियों के लिए अलग से

## पुस्तक समीक्षा

शौचालय आदि की व्यवस्था उपलब्ध कराई गई है परंतु अभी भी सुधार की अत्यंत आवश्यकता है।

इस प्रकार यह पुस्तक भारतीय राजनीति में दो वैचारिक पैमाने (पहचान की राजनीति तथा राज्यवाद की राजनीति) को स्थापित करके दलीय व्यवस्था में उसकी भूमिका का विस्तार से वर्णन करती हैं। परंतु इसके साथ ही इस पुस्तक की कुछ कमियां भी हैं—रू पहली यह है कि पुस्तक में आंकड़ों का अत्यधिक प्रयोग किया गया है जो किसी सामान्य पाठक को पुस्तक को समझने में कठिनाई पैदा कर सकता है।

दूसरी यह है कि लेखक द्वारा नैशनल इलेक्शन स्टडीज़ का प्रयोग करके विभिन्न चुनावों में मतदाताओं के व्यवहार को जानने का प्रयत्न किया गया है, परंतु नैशनल इलेक्शन स्टडीज़ सैंपल के आकार अत्यंत ही सीमित है जो विभिन्न समुदाय के व्यवहारों को बता पाने में असमर्थ होते हैं। नमूनों के आकार सीमित होने के कारण विभिन्न समुदायों की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त साबित नहीं होते हैं। तीसरी कमी यह है कि लेखक द्वारा अपनी इस पुस्तक में सर्वेक्षण पद्धति का प्रयोग किया गया है। सर्वेक्षण पद्धति की कमी यह है कि इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि कई बार लोग अपनी बात को रखने में हिचकिचाते हैं और वह प्रश्नों का उत्तर भय वश देते हैं इससे गलत सैंपल बन जाते हैं तथा इन्हीं गलत सैंपल के आधार पर सामान्यीकरण दे दिया जाता है। सर्वेक्षण सीमित क्षेत्रों में किया जाता है इससे पूरे देश के बारे में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है।

चौथी कमी है कि भारतीय दलीय प्रणाली के अंतर्गत विचारधारा को ही सर्वप्रमुख मान लिया गया है तथा अन्य पहलुओं को अनदेखा किया गया है जो राजनीतिक दलों को प्रभावित करते

हैं। राजनीतिक दलों को समझने के लिये मात्र विचारधारा ही पर्याप्त नहीं है तथापि उसकी संरचना उसके भीतर का नेतृत्व आदि भी महत्वपूर्ण है।

पाँचवीं कमी है कि लेखक डाटा के माध्यम से यह बताने में असफल रहे हैं विचारधारात्मक विभाजन व्यापक हो रहा है या घटता प्रतीत हो रहा है। एक अन्य कमी यह है कि लेखक मानते हैं कि कांग्रेस की असफलता के पीछे नेतृत्व या संगठन कारण नहीं है अपितु कांग्रेस की विचारधारात्मक प्रवृत्ति है, जबकि हम पाते हैं कि नेतृत्व भी चुनाव में एक अहम भूमिका निभाता है अर्थात् कांग्रेस संगठन का नेतृत्व इन दिनों में कमजोर हुआ है जो कहीं ना कहीं कांग्रेस प्रणाली के पतन का मुख्य कारण रहा है।

इस प्रकार लेखक द्वारा अपनी पुस्तक में गुणात्मक पद्धति की अपेक्षा मात्रात्मक पद्धति का अत्यधिक प्रयोग किया गया है, विचारधारा व पहचान अपने आप में अत्यधिक तात्विक (फ़िलॉसफ़िकल) शब्द हैं इसको मात्रात्मक पद्धति द्वारा नहीं समझाया जा सकता। इन कमियों के बावजूद भी यह पुस्तक अपने आप में अनेक रोचक तथ्य प्रदान करती है, तथा इसकी खासियत यह है कि लेखक के द्वारा जितने भी तर्क दिए गए हैं वह सारे तर्क साक्ष्य पर आधारित हैं लेखक के द्वारा अनुभवजन्य आधारित आंकड़ों के आधार पर विचारधारात्मक विभाजन को बताया गया है। यह पुस्तक समकालीन भारतीय राजनीतिक प्रणाली तथा भारतीय दलीय प्रणाली को समझने में अत्यंत सहायक साबित हो सकती है। प्रदीप छिब्रर तथा राहुल वर्मा द्वारा लिखित पुस्तक अपने आप में अनेक तत्त्वों व खूबियों को समाहित किए हुए है। यह पुस्तक भारतीय राजनीति को समझने के लिए एक नया दृष्टिकोण प्रदान करती हैं।

जया ओझा

पी-एच0डी शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत